Peer Reviewed/ Refereed Journal

ISSN -PRINT-2231-3613ONLINE2455-8729
International Educational Journal
CHETANA
Impact Factor SJIF=4.157

Received on 15th Oct. 2019, Revised on 27th Oct. 2019; Accepted 29th Oct. 2019

आलेख

भारत में फिल्मों के विकास का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

* *चन्दन आनन्द, शोधार्थी*
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय
धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश
Email-chandananand13@gmail.com, Mob.-9882400102

मुख्य शब्द *- फिल्म, मतांतरण, विदेशी भाव और भाषा, सांस्कृतिक संरक्षण अथवा सांस्कृतिक उच्छेदन आदि।*

प्रस्तावना

भारतीय रजतपटल शत शरद ऋतुओं का द्रष्टा बन चुका है, वह शतायु हो गया है। आगामी 12-15 महीनों में कई तथ्य और तिथियां आपकी नजरों के सामने से बहुत बार गुजरेंगी। मसलन, प्रथम भारतीय कहानी आधारित फिल्म (फीचर फिल्म) 'राजा हरिश्चंद्र' है। इसके निर्माता धुंडिराज गोविंद फाल्के उपाख्य दादासाहब फाल्के थे। इस फिल्म की शूटिंग की शुरुआत 21 अक्टूबर 1912 से प्रारम्भ हुई। 21 अप्रैल 1913 को मुम्बई के ओलम्पिया हाल में इस फिल्म का पहला शो हुआ। यह शो पत्रकारों और बुद्धिजीवियों तक सीमित था। बाद में 3 मई 1913 को यह फिल्म जनसाधारण के समक्ष प्रदर्शित की गई। इन तमाम आंकड़ों को परोसने की प्रक्रिया में एक तथ्य को छुपाए जाने की प्रबल संभावना भी है। संभवतः पंथनिरपेक्षता की काली छाया और बाजार की कठोर काया का डर आंकड़ों के कारोबारियों को उस तथ्य का जिक्र करने से रोकगा, जिसने भारतीय सिनेमा के पितामह को फिल्म निर्माण के लिए अपनी भूमि और भाषा अपनाने की ललक पैदा की। वह तथ्य यह है कि इसाई मिशनरियों द्वारा संचालित मतांतरण अभियान से उपजे आक्रोश ने दादा साहब फाल्के को सिनेमा का भारतीय शिल्प गढ़ने के लिए प्रेरित किया था।

उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिशनरियों द्वारा सिनेमा के जरिए पश्चिमी आदर्शों को भारत पर थोपने की प्रक्रिया का प्रतिरोध करने के लिए दादा साहब ने भारतीय सिनेमा स्थापित करने के लिए प्रयास प्रारम्भ किए। यह एक स्थापित तथ्य है कि औपनिवेशिक शासनकाल में मतांतरण की प्रकिया को राज्याश्रय प्राप्त था। हिन्दू धर्मावलम्बियों को मतांतरित करने के लिए आर्थिक प्रलोभन और राजनीतिक प्रभुसत्ता दोनों को प्रयोग इसाई मिशनरियां कर रही थी। भारतीयों को मतांतरण हेतु मानसिक स्तर पर तैयार करने के लिए साहित्य वितरण जैसे पारंपरिक तरीकों के साथ सिनेमा जैसी नवीनतम माध्यमों का भी प्रयोग किया जा रहा था। इस कड़ी में वर्ष 1910 में भारत के विभिन्न हिस्सों में यीशु मसीह के जीवन पर आधारित एक फिल्म ' द लाइफ आफ क्राइस्ट' दिखायी गयी। इसी फिल्म ने 39 वर्षीय दादा साहब फाल्के को समानांतर भारतीय सिनेमा को स्थापित करने की प्रेरणा दी। उन्होंने क्रिसमस के अवसर पर 'ईसामसीह'

पर बनी एक फिल्म देखी और फिल्म देखने के दौरान ही निर्णय कर लिया कि उनकी जिंदगी का मकसद फिल्मकार बनना है।[i]

विदेशी भाव और भाषा में निर्मित इस फिल्म को दखने के बाद दादा साहब फाल्के ने यह महसूस किया कि ईसाई मिशनरियां सिनेमाई प्रभाव का उपयोग भारतीय संस्कृति के उच्छेदन के लिए कर रहीं है। उन्हें यह तथ्य समझने में भी समय नहीं लगा कि सिनेमा मनोरंजन तक सीमित नहीं है। इसमें सांस्कृतिक संरक्षण अथवा सांस्कृतिक उच्छेदन की असीम संभावनाए भी निहित हैं। उनकी दूरदृष्टि ने दीवार पर लिखी उस इबारत को भी पढ़ लिया था कि सिनेमा को भारतीय भाषा, भाव और भूमि से जोड़कर सांस्कृतिक नवचैतन्य के लिए संभावनाएं सृजित की जा सकती हैं।

पहली मूक फिल्म बनाई। "सावित्री" और "भस्मासुर मोहिनी" के बाद दादासाहब ने दो और पौराणिक फिल्में "राजा हरिश्चंन्द्र" साथ द में अपनी इन तीन फिल्मों के 1915ादासाहब विदेश चले गएकोल्हापुर .लंदन में इन फिल्मों की बहुत प्रशंसा हुई . बनाई। "गंगावतरण" में दादासाहब ने अपनी पहली और अंतिम बोलती फिल्म 1938 नरेश के आग्रह पर[ii]

उन्होंने अपनी पहली फिल्म के लिए जिस कथावस्तु का चयन किया और उसके निर्माण के लिए जिस तरह से संघर्ष किया, उससे भी यह स्पष्ट होता है कि उनके लिए सिनेमा सांस्कृतिक संरक्षण का उपकरण था। उन्होंने किसी ऐसे भारतीय आदर्श पुरुष पर फिल्म बनाने की ठानी, जिसका भारतीय लोकमानस पर गहरा प्रभाव हो। इसके लिए उन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति का लम्बे अरसे तक अध्ययन और अवलोकन किया। अंततः किसी आदर्श भारतीय पात्र की उनकी खोज महाराज हरिश्चंद्र पर समाप्त हुई। महाराज हरिश्चंद्र के चरित्र में निहित उदात्त नैतिक मूल्यों की स्मृति अब भी भारतीय लोकमानस में बनी हुई थी। कई नाटक कम्पनियां हरिश्चंद्र नाटक का मंचन करती थी और एक आम भारतीय में इस नाटक को जबरदस्त उत्सुकता भी थी। महात्मा गांधी ने इस बात को स्वीकार किया है 'राजा हरिश्चंद्र' नाटक ने उनके जीवन का बहुत प्रभावित किया है। यह स्वीकृति इस बात को साबित करती है कि सम्पूर्ण भारत में राजा हरिश्चंद्र नाटक अत्यंत लोकप्रिय था। दादासाहब फाल्के द्वारा राजा हरिश्चंद्र पर फिल्म निर्माण का निर्णय उनकी भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक संरचना की बेहतरीन समझ का संकेतक है। दरसअसल, रजतपटल को भारतीय स्मृतिपटल से जोडने की ललक ने ही दादासाहब फाल्के को महाराज हरिश्चंद्र पर फिल्म निर्माण करने के लिए प्रेरित किया ।

फिल्म निर्माण की बारीकियों को समझने के लिए 1 फरवरी 1912 को उन्होंने लंदन के लिए प्रस्थान किया। लंदन जाने के लिए उन्होंने अपनी बीमा पाॅलिसी और पत्नी के गहनों को गिरवी रखकर पैसे जुटाए थे। जाहिर है यह संघर्ष व्यवसायिक नहीं बल्कि सांस्कृतिक संरक्षण के लिए था। व्यवसायिक इसलिए नहीं क्योंकि उस समय भारत जैसे देश में सिनेमा के जरिए व्यवसायिक हित साधना संभव नहीं था। फिल्म बनाना एक दुष्कर कार्य था और सिनेमा देखना एक अधम कार्य। सिनेमा को उस समय इतनी हीन दृष्टि से देखा जाता था कि दादा साहब फाल्के को राजा हरिश्चंद्र के महिला चरित्रों के लिए पुरुष कलाकारों का चयन करना पड़ा था। क्योंकि उस समय आम भद्र महिला तो दूर वेश्याएं भी सिनेमा में भूमिका निभाने के लिए तैयार नहीं थीं। तत्कालीन समाज में फिल्म के शौकीनों को भी तौहीन की नजर से देखा जाता था। फिल्म देखने के शौकीन लोगों को ' चवन्नी छाप ' आदम कहकर बुलाया जाता था क्योंकि उस समय मुम्बई के नावेल्टी होटल में

देशी दर्शकों के लिए टिकट का मूल्य चार आने निर्धारित किया गया था। ऐसे माहौल में फिल्म निर्माण के लिए पहल कोई सांस्कृतिक व्यक्ति ही कर सकता है , व्यवसायिक व्यक्ति नहीं। "अंतिम बरसों में दादा साहेब अल्ज़ाइमर से जूझ रहे थे. लेकिन उनके बेटे प्रभाकर ने उनसे कहा कि चलिए नई तकनीक से कोई नई फ़िल्म बनाते हैं. उस समय ब्रिटिश राज था और फ़िल्म निर्माण के लिए लाइसेंस लेना पड़ता था. जनवरी 1944 में दादा साहेब ने लाइसेंस के लिए चिट्ठी लिखी. 14 फ़रवरी 1946 को जवाब आया कि आपको फ़िल्म बनाने की इजाज़त नहीं मिल सकती. उस दिन उन्हें ऐसा सदमा लगा कि दो दिन के भीतर ही वो चल बसे।[iii]

दादा साहब फाल्के द्वारा 'राजा हरिश्चंद्र' के रुप में रोपा गया भारतीय सिनेमा का वह नन्हा पौधा आज एक विशाल वट वृक्ष बन गया है। एक आंकडे के मुताबिक भारत में 1.3 करोड़ लोग प्रतिदिन वॉलीवुड की फीचर फिल्मों को विभिन्न माध्यमों के जरिए देखते हैं। वॉलीवुड में औसतन 1000 फिल्में सालाना बनती हैं। जबकि हॉलीवुड में यह आंकड़ा 600 फिल्मों तक सीमित है। इस वटवृक्ष से तमिल, तेलगु, बंगाली, भोजपुरी फिल्मों की नई जडें निकल आयी हैं। बाहर से देखने पर यह वृक्ष लहलहा रहा है। प्रभाव में वृद्वि हुई है। हमारे सुख, दुख, स्वप्न, शैली और शब्द सब फिल्मों की स्क्रिप्ट और धुनों के जरिए अभिव्यक्त हो रहे हैं। लेकिन क्या प्रभाववृद्वि और व्यवसायिक सफलता रजतपटल के मूल्यांकन के एकमेव आधार बन सकते हैं। भारतीय संदर्भों में ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि दादा साहब फाल्के ने यह पर रजतपटल के शुरुआत सामाजिक सांस्कृतिक संरक्षण और सामूहिक स्मृतिपटल के पोषण के लिए की थी।

आज की स्थिति बिल्कुल उलटी है। रजतपटल भारतीय स्मृतिपटल को पोषित करने के बजाय उसकी जडों में मट्ठा डाल रहा हैं ,उसको खरोंचकर लहूलुहान कर रहा है। आज भारतीय रजतपटल के पास पैसा और तकनीकी दोनों हैं लेकिन भारतीयता को पोषित करने वाली दृष्टि नहीं है। उसकी अंतर्वस्तु या तो बाजारु-भारतीय है अथवा विदेशी। भारतीय समाज और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य की पहचान और अभिव्यक्ति का कोई भी प्रयास रजतपटल के चमकीले लोग नहीं कर रहे है। अभिव्यक्ति की बात तो दूर भारतीय मूल्यों को उपहास की विषयवस्तु के रुप में प्रस्तुत किया जा रहा है। चाणक्य जैसे धारावाहिक के निर्माता और रजतपटल की दुनिया भारतीयता को अभिव्यक्ति देने में सक्रिय कुछ गिने चुने लोगों में से एक डा.चंद्रप्रकाश द्विवेदी आज की स्थितियों का सटीक आकलन करते हुए कहते हैं कि -

"भारतीय सिनेमा के जनक दादा साहब फाल्के के पास उस समय कई विषय रहे होंगे,लेकिन उन्होने अपनी फिल्म की कथा अतीत से चुनी। मतलब यह नहीं कि वे अतीतजीवी थे। उन्हें भारत के सामने एक आदर्श रखना था।उनका उद्देश्य था इस असाधारण उपकरण सिनेमा का इस्तेमाल हम समाज के लिए करें। आजादी और उससे पहले जो फिल्में हमारे यहां बनी उसमें भारत की जडें थी।भारतीय आत्मा थी।भारत के सवाल थे। उन सवालों के उत्तर देने की कोशिशें भी उनमें थी।पांचवें छठें दशक का सिनेमा भारतीय तत्वों से भरा था। परन्तु जैसे-जैसे सिनेमा का विकास होता गया , बाजार का दबाव बढता गया। हमारी कहानियां भारत से दूर होती गयीं। अब स्थिति ऐसी हो गयी है कि भारत के पात्र होत हैं और पीछे विदेशी भीड घूम रही होती है। हमारी गलियां भी अमृतसर , राजस्थान , यूपी और बिहार की नहीं रह गयीं, बल्कि अब हम गलियां भी न्यूयार्क , लंदन , शंघाई, स्पेन और कनाडा जैसे देशों की ढूंढ रहे हैं।[iv]

वर्तमान भारतीय रजतपटल में भारत और भारतीयता दोनों एकसिरे से गायब हैं। आज के रजतपटल में गोवध की समस्या नहीं है, मैली होती गंगा नहीं है, किसान आत्महत्या नहीं है, 90 करोड़ निर्धन नहीं हैं, बिजली से महरुम और ढिबरी से टिमटिमाते 10 करोड़ घर नहीं हंै, गांव की पगडंडिया नहीं हैं, हाथरस, भदोही, मुरादाबाद के हस्तशिल्पियों की दारुण दशा नहीं है। भारतीय स्मृतिपटल में रची बसी छवियां नहीं हैं, मुहावरे नहीं है। वह तो राजपथ, फ्लाईओवर, शापिंगमाल्स से जगमगा रहा है। विदेशों में पिकनिक मना रहा है, बास्टर्ड कहने में इतरा रहा है और च्यूतिया कहने में लजा रहा है। उद्योगपतियों के कौशल को मसाला लगाकर दिखा रहा है। डा चंद्रप्रकाश द्विवेदी इस संदर्भ में कहते हैं कि -

"पिछले 63 सालों में भारत के विभाजन पर कितनी फिल्में बनी? उंगलियों पर गिन सकते हैं 1984 के दंगों पर कितनी फिल्में हैं? कश्मीर का सामाजिक और राजनीतिक मुद्दा हमारी फिल्मों का विषय नहीं हैं। आतंकवाद और नक्सलवाद को लेकर, भ्रष्टाचार को लेकर, आरक्षण को लेकर, रामजन्म भूमि विवाद को लेकर फिल्में नहीं बनी हैं। इतने सारे विषय देश में मौजूद हैं, परंतु हमारे फिल्मकारों को उनसे कोई सरोकार नहीं है।"[v]

सर्वाधिक पीड़ादायी दृश्य यह है कि कई पीढ़ियों से लोकस्मृति में घर कर चुकी छवियां और शब्द में रजतपटल पर जगह नहीं पा रहे हैं। 60 और 70 के दशक में फिल्मों के आधिकांश गाने लोकधुनों पर आधारित होते है। आज भी लोग उन्हें बडे आत्मीय भाव से गुनगुनाते हैं। नैन लडी जईहैं तो मनवा में खटक होईबै करी, चलत मुसाफिर मोह लियो रे पिजडे वाली मुनिया ,दुख भरे दिन बीते रे भइया सुख भरे दिन आयो रे, जैसी लोकधुने अब रजतपटल से लुप्तप्राय हो गयी हैं। भारतीय नाटको की परंपरा सुखांत रही है, अच्छाई के पथ पर चलने वाले नायक की विजय सुनिश्चित होती है। लेकिन अब रजतपटल पर पश्चिमी दुखांत परंपरा हावी हो रही है। अच्छाई और बुराई की रेखाएं मिट रही हैं।

सोनचिरैया संस्था की संस्थापक और प्रख्यात लोकगायिक मालिनी अवस्थी रजतपटल पर लोकधुनों के गायब होने से काफी आहत हैं। वह रजतपटल में लोक के लिए सिमटते स्थान पर चिंता जाहिर करते हुए कहती हैं कि -"स्थिति यह है कि सिर्फ गायन में ही नहीं लोक के सभी अंग -उपांग में क्षति है।लोक कलाकार के अस्तित्व से सीधे जुडा हुआ है लोक कलाओं का अस्तित्व।नक्कारा ,ताशा ,मृदंग ,झांझ,सींगी ,करताल और हुडुक जैसे वाद्य तभी तक सुरक्षित है ,जब तक कि इनके कलाकार । इन कलाओं को बचाना है तो इन लोक कलाओं को बढावा देना होगा । नई पीढी को इस अनमोल थाती से जोडना है तो लोककलाओं को अब स्कूली पाठ्यक्रम में शामिल करना होगा । यदि अपनी संस्कृति और अपने निजत्व की पहचान बनाए रखनी है तो समाज को हर हाल में नई पीढ़ी को लोक-साक्षर बनाना ही होगा।

निश्चय ही, वर्ण साक्षरण और ई साक्षरता से कम जरुरी नहीं है लोक साक्षरता। लोकसाक्षरता एक व्यापक शब्द है। इसका सम्बंध केवल गायन वादन से नहीं है। यह उस परंपरा से परिचय है जो भारतीय व्यक्तित्व को वैशिष्ट्य प्रदान करती है। इस परंपरा का उल्लेख किसी शास्त्रीय पोथी में नहीं है। इस परंपरा के प्राण भारतीयों के सामूहिक स्मृतिपटल में बसता है। इसी स्मृति पटल की बदौलत लाखों शब्द और छवियां समय के अवरोधों को पार करते हुए निरंतर एक पीढी से दूसरी पीढी में प्रवाहित हो रही हैं। स्मृतिपटल का चुकना भारतीयों की सबसे बडी सांस्कृतिक पराजय होगी। सामूहिक स्मृति पटल को बचाने के लिए लोकसाक्षरता आवश्यक है। यही सैकडों सालों की पराधीनता के कारण भारतीय भावभूमि पर जड जमा चुकी आत्महीनता की ग्रंथि को उखाड सकती है।

स्मृतिपटल और रजतपटल के बीच स्वस्थ संवाद स्थापित कर लोकसाक्षरता को बढाया जा सकता है , यह सवंाद स्मृतिपटल के संरक्षण के लिए भी आवश्यक है। इसके लिए रजतपटल पर सांस्कृतिक समझ वाले लोगों की सक्रियता बढनी आवश्यक है। भारत में व्यवस्था परिवर्तन के आकांक्षी व्यक्तियों को भी रजतपटल को हल्के में लेने और उससे दूर रहने की प्रवृत्ति परिवर्तित करने होगी। जो रजतपटल प्रतिदिन 1.3 करोड भारतीयों तक पहुंचता है ,उन्हें हंसाने -रुलाने की क्षमता रखता है,युवावर्ग जिससे सर्वाधिक प्रभावित होता हो ,उसको नजरंदाज कर व्यवस्था परिवर्तन की रुपरेखा कैसे तय की जा सकती है? क्या श्री रामजन्म भूमि आंदोलन की सफलता में श्री रामानंद सागर कृत रामायण के योगदान को एकदम से नकारा जा सकता है। रजतपटल पर सांस्कृतिक व्यक्तियों की सक्रियता समय की मांग है। सांस्कृतिक व्यक्तियों की सक्रियता रजतपटल पर स्मृतिपटल का प्रभाव और दबाव सृजित करेगी। यह प्रभाव और दबाव सांस्कृतिक सम्पन्नता और निरंतरता के लिए आवश्यक है।

भारतीय स्मृतिपटल को लहुलूहान करने में मात्र रजतपटल की अंतर्वस्तु और तकनीकी ही जिम्मेदार नहीं है। रजतपटल से सम्बंधित सूचना-प्रवाह भी भारतीय स्मृतिपटल की जडें खोद रही है। व्यवसायिक सिनेमा के अतिरिक्त बहुत कुछ सर्जनात्मक भी रजतपटल की दुनिया हो रहा है। लेकिन फिल्म की दुनिया में उसकी कोई रिपोर्टिंग नहीं होती। बिग बाॅस को लेकर तो प्रिंट और मीडिया ने आसमान अपने सिर पर उठा लिया था लेकिन लगभग एक दशक के शोध के बाद मार्च से प्रसारित होने वाले डाॅ चंद्रप्रकाश द्विवेद्वी के धारावाहिक उपनिषद गंगा की चर्चा सूचना-संसार और फिल्म, धारावाहिक समीक्षा के काॅलम का हिस्सा नहीं बन सका । डाक्यूमेंट्री की समीक्षा अब भी रजतपटल पत्रकारिता का हिस्सा नहीं बन सकी है, जबकि यह फिल्मों की अपेक्षा भारतीय भावभूमि और समस्याओं से अधिक जुडी है। रजतपटल की पत्रकारिता को साहित्य समीक्षा जैसा गांभीर्य देकर रजतपटल के भारतीयकरण की दिशा में प्रारम्भिक कदम बढाया जा सकता है।

- http://www.bbc.com/hindi/entertainment/2015/04/150429_dada_saheb_145_jayanti_ssm
- Ibid
- ibid
- झंकार ,दैनिक जागरण , 5 फरवरी 2012 , पृष्ठ 4
- Ibid

*** Corresponding Author:**
चन्दन आनन्द, शोधार्थी
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय,
धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश
Email-chandananand13@gmail.com, Mob.-9882400102